

भारतीय दार्शनिक, विचारक एवं पर्यावरण संरक्षण

कालिदास

कालिदास प्रकृति और मानव के मिलन से अनुपम सौन्दर्य की उत्पत्ति मानते थे। उन्होंने अपने ग्रंथों में, प्रकृति और नारी के यौवनमय लावण्य और सौंदर्य का हृदयग्राही वर्णन किया है। 'कुमारसम्भव' में हिमालय पर्वत की शोभा का वर्णन, 'रघुवंश' में वशिष्ठ ऋषि के तपोवन तथा त्रिवेणी के सौंदर्य का वर्णन तथा 'ऋतु-संहार' में सारी ऋतुओं के सौंदर्य का वर्णन अत्यन्त आकर्षक है। 'मेघदूत' में भी प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन बहुत ही सुन्दर हुआ है। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक का प्रथम अंक तो प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण से भरा पड़ा है। जैसे मालिनी की रेती में खेलते हुए हंस-मिथुन, पर्वत की तलहटी में मृग के सींग से आंख खुजलाती हुई मृगी और वृक्षों की शाखाओं पर सूखते हुए ऋषियों के वल्कलों के अंकन से ही चित्रमयी शकुन्तला का लावण्य पूरी तरह खिलता है। तात्पर्य यह है कि कालिदास प्रकृति-सौन्दर्य के महान् उपासक थे। ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रकृति का मनोरम सौंदर्य ही उनकी भाषा है।

प्रकृति-सौंदर्य के साथ-साथ कालिदास का नारी-सौंदर्य वर्णन भी मनमोहक है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी नारी सौंदर्य में विशेष रुचि थी। 'कुमारसम्भव' में महाकवि ने पार्वती के सौंदर्य का नख-शिख वर्णन किया है। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में शकुन्तला को बनाने में पहले ब्रह्मा ने उसे मन में परिकल्पित किया होगा। 'मेघदूत' में यक्ष, मेघ से अपनी पत्नी के सौंदर्य का वर्णन करता है। परन्तु महाकवि ने नारी के बाह्य सौंदर्य को प्रधानता न देकर उसके शुभ गुणों के सौंदर्य को प्रधानता दी है। अतः कालिदास ने सौंदर्य के साथ-साथ मर्यादित व्यवस्था और संतुलित जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया है, जो एकदम अनुपम व अनूठा है।

भारतीय संस्कृति वनों-तपोवनों में फली-फूली है। पेड़ों को हमने प्यार दिया और पेड़ों ने भी पुनः हमें स्नेह प्रदान किया है। इन्होंने अपनी छाया, फल-फूल से पर्यावरण को संतुलित बनाये रखा है। 'मेघदूत' का एक प्रसंग है जिसमें शकुन्तला का उदाहरण आज भी हृदय-विदारक है। शकुन्तला प्रियंवदा एवं अनसूया के साथ छोटी-छोटी गगरियों में जल लिए पेड़ों को सींच रही है, उसकी इसी अदा पर दुष्यन्त मुग्ध हो गये हैं।

अनसूया ने जब शकुन्तला से यह कहा- 'अरी शकुन्तला ! मैं समझती हूँ कि पिता कण्व इस आश्रम के पौधों को तुझ से अधिक प्यार करते हैं, नहीं तो भला चमेली की कली जैसी अंग वाली तुमको ये आलबाल या थांबले भरने का काम क्यों सौंप जाते ?' इसका जो उत्तर शकुन्तला ने दिया वह माना भारतीय लोक भावना का प्रतिनिधित्व करता है। शकुन्तला ने उत्तर दिया, 'मैं केवल पिताजी की आज्ञा से ही इन्हें नहीं सींचती हूँ, मैं स्वयं भी इनको अपने सगे-सहोदर जैसा प्यार करती हूँ।'

शकुन्तला की विदाई का समय है। कन्या की प्रथम विदाई का करुण अवसर। आश्रम की मर्यादा है। कण्व कण्ठावरुद्ध हैं - केवल पेड़ हैं जो पीले पत्तों के बहाने टप-टप आंसू गिरा रहे हैं। कण्व ने कहा, 'बेटी ! इन वृक्षों से गले मिलो और विदा मांगो।' पेड़ों को कण्व कह रहे हैं - 'वन देवताओं से भरे तपोवन के वृक्षों, जो शकुन्तला पहले तुम्हें पिलाये बिना स्वयं जल नहीं पीती थी, जो आभूषण पहनने का शौक होने पर भी तुम्हारे स्नेह के कारण कोमल पत्तों व पुष्पों को हाथ नहीं लगाती थी, जो तुम्हारी नई कलियों को देख-देखकर फूली नहीं समाती थी- वही शकुन्तला अपने पति के घर जा रही है, तुम सब इसे प्रेम से विदा कर दो।' इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में पेड़ों से किस प्रकार अथाह प्रेम एवं भावात्मक सम्बन्ध भारतीयों के रहे हैं।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर प्राकृतिक सौन्दर्य देखकर प्रफुल्लित हो उठते थे। उनके लिये सौन्दर्यमय यह दुनिया ही परम आनन्द थी। इसलिए आनन्द और सौन्दर्य की दुनिया छोड़कर वे मरना नहीं चाहते थे। 'कड़िओ कोमल' में वे एक स्थान पर कहते हैं - 'मैं इस सुन्दर जगत में मरना नहीं चाहता, मैं तो मनुष्यों के बीच में जीना चाहता हूँ, अगर मुझे सूर्य की किरणों से प्लावित और पुष्पों से मंडित वन के जीवित हृदय में स्थान मिल जाए।' गीतांजलि में वे कहते हैं-

**एइ ज्योति-समुद्र-माझे ये शतदल पद्म राजे।
तारे मधु पान करेछि, धन्य आमि ताई।।**

‘मैं धन्य हूँ क्योंकि मैंने इस ज्योति के समुद्र बीच खिले हुए शतदलकमल के मधुरस का पान किया है।’ रवीन्द्र, पृथ्वी के सौन्दर्य और आनन्द के कारण पृथ्वी को स्वर्ग से श्रेष्ठ मानते हैं। पृथ्वी के आनन्द के सामने कुछ भी नहीं है। इसलिए वे स्वर्ग को छोड़कर पृथ्वी को ही पसन्द करते हैं। वे ‘चित्रा’ नामक काव्य-ग्रंथ में एक स्थान पर कहते हैं— ‘हे स्वर्ग, तुम अपने मुख की हंसी लिए रहो ! हे देवताओं तुम अमृतपान करते रहो, स्वर्ग तुम्हारे लिए सुख का स्थान बना रहे। हम लोग तो परदेशी हैं। हमारा देश स्वर्ग नहीं है, बल्कि हमारी मातृभूमि है। इसलिए वहां दो दिन भी रहकर यदि कोई उसे दो पहर के लिए भी छोड़कर चला जाये तो उसकी आंखों से आंसुओं की धारा बहने लगती है। हम कितने भी क्षुद्र, दुर्बल, अयोग्य और पापी क्यों न हों, वह हमारा व्यग्रता से आलिंगन कर हमें अपने कोमल वक्ष में बांधना चाहती है।’ अतः मृत्युशैया पर पड़े हुए भी रवीन्द्र ने, इस जीवन के आनन्द से प्रफुल्लित होने के कारण, भय प्रकट नहीं किया।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर से जब भारतीय संस्कृति के बारे में पूछा गया तो उनका उत्तर था भारत की संस्कृति न गांवों की है और न शहरों—नगरों की। भारतीय संस्कृति ‘अरण्य—संस्कृति’ है। हमारे इतिहास, परम्परा, दर्शन और संस्कृति का निर्माण ‘अरण्य’ में ही हुआ है। महान ऋषि, महर्षि, विद्वान, दार्शनिक, तपस्वी अरण्य में ही रहे और अपने क्रिया—कलापों से भारतीय मानस को प्रभावित किया।

टैगोर ने लिखा है— ‘वन व प्राकृतिक जीवन मानव जीवन को एक निश्चित दिशा देते हैं।’ मानव प्राकृतिक जीवन की वृद्धि के साथ निरन्तर सम्पर्क में था। वह अपनी चेतना का विकास आस—पास की भूमि से करता था। उसने विश्व की आत्मा व मानव की आत्मा के बीच के सम्बन्ध को महसूस किया। मानव व प्रकृति के बीच की इस तारतम्यता ने पर्यावरण के आत्मार्पित करने के शान्तिपूर्ण व अपेक्षाकृत अच्छे तरीकों को जन्म दिया। मनोसामाजिक आत्मीकरण की अधिक उपयोगिता थी, न कि जैविक आत्मीकरण की।

डॉ. राधाकृष्णन

डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं — यदि हम एक—दूसरे के प्रति दयालु नहीं हैं और यदि पृथ्वी पर शान्ति स्थापित करने के हमारे सब प्रयत्न असफल रहे हैं, तो उसका कारण यह है कि मनुष्यों के मन और हृदय में दुष्टता, स्वार्थ और द्वेष से भरी अनेक रुकावटें हैं जिनकी हमारी जीवन प्रणाली कोई रोकथाम नहीं करती। यदि हम आज जीवन द्वारा तिरस्कृत हैं तो उसका कारण कोई दुष्ट भाग्य नहीं है। जीवन के भौतिक उपकरणों को पूर्ण कर लेने में हमारी सफलता

के कारण हमारे मन में आत्मविश्वास और अभिमान की एक ऐसी मनोदशा उत्पन्न हो गई है, जिसके कारण हमने प्रकृति का ज्ञान—संचय और मानवीकरण करने की बजाय उसका शोषण करना प्रारम्भ कर दिया है। हमारे सामाजिक जीवन ने हमें साधन तो दिये हैं, पर लक्ष्य प्रदान नहीं किये। हमारी पीढ़ी के लोगों की आंखों पर एक भयानक अन्धता छा गई है।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने जो कुछ कहा उसका कई क्षेत्रों में बड़ा उपहास किया गया। लेकिन गांधी अपनी बात पर पूरी तरह दृढ़ थे। उनकी बातों का जिस तरह उपहास हुआ — बहुत असहाय होते हुए भी गांधी उससे विचलित नहीं हुए बल्कि अपने अभिप्राय को और दृढ़ता से स्पष्ट किया।

स्वतन्त्र भारत का स्वरूप कैसा होगा उसका चित्र सन् 1922 में ही गांधी ने खींच दिया था। 'यंग इंडिया' में 9 मार्च 1922 को गांधी ने लिखा — स्वराज्य में रेलें होंगी किन्तु उनका उद्देश्य भारत का सैनिक या आर्थिक शोषण नहीं होगा, बल्कि उनका उपयोग भीतरी व्यापार बढ़ाने और तीसरे दर्जे के मुसाफिरों के जीवन को काफी आरामदेह बनाने में किया जायेगा। तीसरे दर्जे की मुसाफिरी करने वाली जनता जो किराया देती है, उनका कुछ बदला उसे मिलेगा। कोई यह आशा नहीं करता कि स्वराज्य में रोगों का सर्वथा अभाव होगा। इसलिए स्वराज्य में अस्पताल तो अवश्य होंगे, परन्तु यह आशा रखी जाती है कि तब अस्पतालों का उद्देश्य भोग—विलास के रोगियों की अपेक्षा दुर्घटनाओं के शिकार होने वालों की सेवा करना अधिक होगा। बेशक चरखे के रूप में यंत्र भी होंगे। आखिर चरखा भी एक नाजुक यंत्र ही है। इसमें मुझे कोई शंका नहीं कि स्वराज्य में भारत में कई कारखाने खड़े होंगे जिनका उद्देश्य लोगों को लाभ पहुंचाना होगा, न कि आजकल की तरह जनता का खून चूसना। जल सेना का तो मुझे पता नहीं, लेकिन इतना अवश्य जानता हूँ कि भावी भारत की स्थल सेना के सैनिक भारत को गुलाम बनाये रखने और दूसरे राष्ट्रों की आजादी छीनने वाले भाड़े के टट्टू नहीं होंगे। तब स्थल सेना बहुत कुछ घटा दी जायेगी, उसमें अधिकांश स्वयंसेवक होंगे और उनका उपयोग आन्तरिक व्यवस्था रखने के लिए पुलिस शक्ति की तरह किया जायेगा। स्वराज्य में कानून होंगे और कानूनी अदालतें भी होंगी, परन्तु वे लोगों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए होंगे, न कि आज की तरह एक नौकरशाही के हथियार होंगे, जिसने एक सम्पूर्ण राष्ट्र को शक्तिहीन बना दिया है तथा जो उसे और भी शक्तिहीन बनाने पर तुली हुई है। अन्त में स्वराज्य में जो चाहे उसे लंगोटी पहनने और खुले सोने की स्वतन्त्रता होगी। लेकिन मुझे आशा है कि आजकल की तरह लाखों

आदमियों के लिए एक मैला—सा चिथड़ा पहनकर घूमना जरूरी नहीं होगा, जो आवश्यक कपड़ा खरीदने का साधन न होने से आज लंगोटी का काम देता है। न स्वराज्य में लाखों लोगों को मकानों के अभाव में थके हुए और भूखे शरीरों को खुले में आराम देना पड़ेगा।

गांधीजी के उपर्युक्त विचार एक बार हमें अच्छे न लगें। परन्तु यह सोचा तो जा सकता है कि पर्यावरण से इन विचारों का क्या सम्बन्ध हो सकता है। लेकिन इन बातों में गांधी जिस तरह के समाज और जीवन की अपेक्षा करते हैं — यही हमारा सामाजिक—आर्थिक पर्यावरण है।

बापू ने उत्तर दिया

भारत के घनिष्ठ मित्र एवं ब्रिटेन के जाने माने लेखक एडवर्ड थाम्पसन ने महात्मा गांधी से कहा — वन्य प्राणी बड़ी तेजी से लुप्त होते जा रहे हैं।

बापू ने उत्तर दिया — 'वे वनों में कम होते जा रहे हैं, परन्तु नगरों में बढ़ते जा रहे हैं।

जवाहरलाल नेहरू

प्रकृतिप्रेमी स्व. नेहरू के भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विषयक विचार आज भी प्रासंगिक हैं। धर्म की मीमांसा करते हुए उन्होंने कहा था — 'सारी सृष्टि ब्रह्म में व्याप्त है और जड़—चेतन सबके भीतर एक ही सत्ता निवास करती है। इस मत के प्रचार से हिंसा की भावना ढीली होने लगी और लोग भी मानने लगे कि मनुष्य के समान ही पशु—पंक्षी, पेड़—पौधे भी हिंसा नहीं, प्रेम और आदर के अधिकारी हैं।

नेहरूजी ने एक बार यह भी कहा था, 'उगता हुआ वृक्ष प्रगतिशील राष्ट्र का प्रतीक है।' फिर भी हम अपने वनों की उपेक्षा कर रहे हैं।

श्री रामधारीसिंह

श्री रामधारीसिंह ने जैन धर्म की विशेषताओं का वर्णन करते हुए अपने ग्रंथ 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है, 'जैनियों की अहिंसा' निस्सीम है। स्वयं हिंसा करना, दूसरों से करवाना या किसी भी तरह हिंसा में साथ देना जैन धर्म में मना है। विशेषता यह है कि जैन दर्शन में केवल शारीरिक हिंसा ही वर्जित नहीं है अपितु वह बौद्धिक अहिंसा को भी अनिवार्य बताता है।

गुरु नानक आचरण की पवित्रता के प्रवक्ता थे। उन्होंने जनेऊ का प्रतिकार करते हुए कहा था 'इन पवित्र धागों में जब तक दया की कपास, संतोष का सूत और सत्य की गुंडी न हों, जो भार स्वरूप जनेऊ धारण करके हिन्दुत्व की तख्ती भले ही लटका लें, जीवन को शुद्ध करने का तरीका तो यह नहीं है।' जिस व्यक्ति में दया या संतोष के भाव हों उससे यह आशा ही नहीं की जा सकती कि वह हिंसा करेगा। दया, हिंसा का एक प्रकार से विलोम है और संतोषी प्राणी के लिए तो वही पर्याप्त है जो प्रकृति, वनस्पति अथवा अनाज के रूप में उसे देती है। वह भला जीव—हिंसा क्यों करेगा ?

लौहपुरुष सरदार पटेल

लौहपुरुष सरदार पटेल के अनुसार 'वन प्राकृतिक वनस्पति ही नहीं राष्ट्रीय सम्पत्ति भी हैं। ये समाज की सेवा केवल भवन निर्माण, फर्नीचर तथा ईंधन जैसी प्राथमिक मांग की पूर्ति करके ही नहीं करते वरन् जलवायु की विषमताओं को सम करने तथा दानवरूपी मरुस्थल के प्रसार को रोकने तथा उफनते नदी—नालों द्वारा उपजाऊ भूमि पर होने वाली विनाश लीला से भी रक्षा करने में भूमिका निभाते हैं।'

शताब्दियों पूर्व गर्ग, कपिल, कश्यप व पाराशर मुनियों ने पर्यावरण संतुलन को एक जन—आंदोलन बनाया था एवं इसे सामाजिक दायित्व का रूप देकर जन—भावनाओं से जोड़ा था। विभिन्न ऋषि—मुनियों के पर्यावरण सम्बन्धी श्लोकों तथा स्वयं के अध्ययन को वराहमिहिर ने अपनी पुस्तक 'वृहत्संहिता' में संकलित किया है।

अतः पेड़—पौधों को लगाना, सींचना, संरक्षण करना, प्रकृति के समस्त संसाधनों को दूषित न होने देना और पारिस्थितिकी संतुलन को बनाए रखना हमारा नैतिक कर्तव्य है, ताकि आने वाली पीढ़ियों के लिए हम एक हरी—भरी प्राकृतिक विरासत छोड़ सकें। जब हम अपनी प्राचीन संस्कृति तथा नैतिक मूल्यों को वरीयता देते हुए प्राकृतिक संसाधनों एवं जीव—जन्तुओं का संरक्षण करेंगे तो व्यक्तिगत हित की बजाय सार्वजनिक हित स्वाभाविक रूप से पूरे होंगे और राष्ट्रीय गीत को सनातन रूप मिलेगा—

'वंदे मातरम् शस्य श्यामलां,

सुजलाम् सुफलाम् मातरम्।'

शस्य—श्यामला, सुजला और सुफलाम् का चित्र भारतीयों के मस्तिष्क में उभरने लगेगा। चारों ओर फसलों की श्यामलता, वन, उपवन, उद्यान और शाखाओं के हाथ फैलाकर बुलाती, झाला देती सघन वनराशि।

इन्दिरा गांधी

स्व. इन्दिराजी ने कहा था— पर्यावरण सम्बन्धी शिक्षा प्रारम्भिक अवस्था से ही शुरू कर देनी चाहिए। यहां तक कि एक छोटा-सा बालक, जो अभी बोलता भी नहीं है, वह जो अपने आस-पास की सुन्दरता को देखे। बालकों को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाये कि वे आस-पास के वृक्षों, फूलों, पहाड़ियों, समुद्री किनारों, पशुओं जैसी साधारण-सी बातों तथा उनके प्राकृतिक पर्यावरण की सुन्दरता को देखें, कि उन्हें उपयोगिता की दृष्टि से किस प्रकार संरक्षित रखा जा सकता है।' (सांसदों के प्रथम राष्ट्रीय पर्यावरण सम्मेलन 1983) में दिये गये भाषण के अंश)

श्री राजीव गांधी

हमारे प्रिय नेता भारत के पूर्व प्रधानमंत्री माननीय श्री राजीव गांधी ने भी वन संरक्षण पर उद्बोधन करते हुए कहा था— “मैं बड़ी बेसब्री से इस बात का इन्तजार कर रहा हूं कि वनरोपण तथा वनसंरक्षण में राज्यों में एक नई चेतना जाग्रत हो। वन-संरक्षण कोई ऐसी बात नहीं है जिसे हम जनता पर थोप सकें। वनसंरक्षण को हमारे विचारों को एक हिस्सा बनाना चाहिए तथा शिक्षा के प्रारम्भिक स्तर से इसे सम्मिलित किया जाना चाहिए। तभी हमारे बच्चे अपने दिल से महसूस कर सकेंगे कि वनों का संरक्षण और सुरक्षा उनका प्रथम कर्त्तव्य है। विरासत में मिली यह भावना पीढ़ी दर पीढ़ी फैलती रहनी चाहिए’ (22 जनवरी, 1986 को केन्द्रीय वानिकी मण्डल की बैठक में दिये गये भाषण के अंश)

